RESEARCH REVIEW JOURNALS
Volume-04
Issue-04
April -2019

ISSN: 2455-3085 (Online)
RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
www.rrjournals.com [UGC Listed Journal]

सर्जन और समीक्षा का आत्मसंर्घष

श्याम शंकर मिश्र

शोध छात्र, जी0 एफ0 कॉलेज,शाहजहॉपुर, रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली, उ0 प्र0

'सृजन' सृष्टि की प्रत्येक इकाई का जीवन–धर्म है; वह अच्छा हो,बुरा हो,साधारण हो, सुन्दर हो, अन्त्वोगत्वा मानव–धर्म के ही अन्तर्गत आता है । मानव–धर्म की यह व्यापकता समाज में अभिव्यक्ति पाती है साहित्य के माध्यम से; जो कि समाज में मानव–जीवन पर पड़ने वाली अन्तः क्रियाओं की प्रतिक्रिया के रूप में 'भाषा' के माध्यम से सर्जनात्मक होती है।

सृजनात्मकता मनुश्य की इश्वर प्रदत्त वह सृष्टि है, जिसका अंकुर उसे जन्मजात ही प्राप्त हो जाता है–समाज में रहकर सामाजिक क्रियाकलापों के रूप में । मानव जब इस भौतिक संसार की उधेड़बुन से घबरा जाता है या ये भौतिकता की दुनिया उसे बेचैन करती है, तब वह अपनी इस अकुलाहट को शान्त करने के लिए कला या साहित्य में आश्रय ढूढ़ता है । कला और साहित्य का यही आश्रय ही उसे सर्जन के लिए मजबूर करता है, जिससे उसको मानसिक शन्ति का अनुभव होता है । 'अपने–अपने अजनवी' में अज्ञेय का यह कथन सृजन की इस पीड़ा को बखूबी व्यक्त करता है कि– ''ईश्वर भी शायद स्वेक्षाचारी नही है– उसे भी सृष्टि करनी ही है, क्योंकि उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है, वह सृष्टि नहीं करेगा तो पागल हो जायेगा.....।''

लेकिन इस सृजन की एक विषेशता और है वह यह है कि यह प्रक्रिया भी भाषा के माध्यम से ही सर्जनात्मक होती है जब वह 'भाषा से घबरा जाता है तो उसे भाषा के ही एक विशेष प्रयोग में संतोष की अनुभूति होती है।' अर्थात् मनुष्य जो कुछ भी सोंचता है,जो कुछ भी अनुभव करता है उन सबका माध्यम भाषा ही होती है विचार और अनुभूति की संष्लिश्टता भाषा की विशेषता है, इसीलिए साहित्य भाषा में रचा जाता है। 'किसी विचार या अनुभव को किसी अन्य व्यक्ति में संक्रमित करना जिससे उसका फिर नया विकास सम्भव हो सके सर्जन प्रक्रिया का आरम्भिक चरण है, स्पश्ट ही यह संक्रमण किसी न किसी स्तर पर भाशा में ही होगा ।'[1] अगर कहा जाये कि मनुष्य भाषा में ही जीता है ओर भाषा में ही मरता है तो कोई अतिश्योक्ति न होगी । डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी के षब्दों में कहें तो –''सृश्टि का माध्यम षरीर है तो सर्जन भाशा में सम्भव होता है षरीर और उनके सम्बन्धों का ही सूक्ष्म रूप यों भाशा है। ''

'सृजन' या 'सर्जना' क्या है? वैसे सर्जना का सामन्य प्रयोग बतमंजपवद ;क्रियेषनद्ध के अर्थ में इस्तेमाल किया जाता है । अर्थात् जो नया हो, सबसे अलग या भिन्न हो उसे ही हम क्रियेषन या 'क्रियेटिव' मानते हैं। लेकिन साहित्य के सन्दर्भ में इसका प्रयोग 'रचनात्मक–साहित्य' माना जाता है।अर्थात् ऐसी रचना या साहित्य जो सर्जक के साथ–साथ पाठक श्रोता को भी अपने समानांतर लेकर चले, वह भी उन्हीं रास्तों या मंजिलों से गुजरे जिनसे रचनाकार गुजरता है। जिसको पढ़ते हुए उसे अपना जीवनानुभव प्रतिबिम्बित हो, उसमें उसे अपनापन दिखे उसे भी उस पीड़ा या आत्मसंघर्श की अनुभूति हो जो सृजन के पूर्व सर्जक के मन में थी; तभी वह साहित्य या रचना सही मायने में 'सर्जनात्मक' होती है जिसकी अपेक्षा हर पाठक या श्रोता रचनाकार से करता है ।

साहित्य यदि जीवन की पुर्नरचना है तो, आलोचना भी साहित्य की पुर्नरचना मानी जाती हैं साहित्य सिर्फ कल्पना की कोरी उड़ान ही नहीं है; बल्कि साहित्य के माध्यम से एक सृजनशील रचनाकार मानवीय जिजिविषा को अपने जीवनानुभव के द्वारा एक जीवन्त अनुभूति प्रदान करता है, अपनी रचना के माध्यम से वह मानवीय जीवन की वास्तविकता को शब्द प्रदान करता है इसीलिए साहित्य को समाज का दर्पण माना जाता है। समाज का यह 'दर्पण' समाज का कितना सच्चा प्रतिबिम्ब दिखाता है, उसकी संवेदना को किस स्तर तक अभिव्यक्त कर पाता है यह देखना ही आलोचना का दायित्व है। कोई भी आलोचक अपने इस दायित्व को जितना तटस्थ और कृति से संघर्ष करके निभायेगा उसकी आलोचना भी उतनी ही रचनात्मक एवं सर्जनशील होगी। क्योंकि–''रचना जब रचनाकार को मथकर, उसके मंथन से निचुड़कर निकलती है तो अर्थवान और असरवान होती है। ऐसे ही आलोचना भी जब आलोचक के आत्ममंथन से पैदा होती है तो सर्जनात्मक और सार्थक होती है। ''[2] इस तरह रचना एक 'मधु' बनाने की जटिल प्रक्रिया है और आलोचना उसका रासायनिक विश्लेषण; दोनो का बुनियादी सरोकार एक ही है–मानवीय संवेदना को सृजनात्मक अभिव्यक्ति देना।

कोई भी कृति या रचना मानवीय जीवन की समग्रता को कितने गहरे तक पकड़ती है,उसकी जटिलताओं को कितना अभिव्यक्ति करती है, उस समाज को किस दिशा में ले जाती है यह उसकी सर्जनात्मक क्षमता और रचनाकार की प्रतिभा पर निर्भर करता है।''जीवन की वास्तविकता का जिस कृति में जितना ही व्यापक और यर्थाथ चित्रण होता है, वह उतनी ही महान होती है। हर देश, काल और समाज के साहित्य में अपने युग के केन्द्रीय विचार, समस्याएं,दृष्टिकोंण और भौतिक मान्यताएं पूरे वैविध्य के साथ प्रतिबिम्बित हुई हैं।''[3] लेकिन किसी भी रचना की यह रचनात्मकता तभी

[1]–भा ा संवेदना और सर्जन डॉ रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाथन इलाहाबाद पृ ठ–91।

[2]गद्य के प्रतिमान– विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद पृष्ठ–136

[3]आलोचना के मान– शिवदान सिंह चौहान, स्वराज प्रकाशन दिल्ली पृष्ठ– 54 ।

RRIJM 2015, All Rights Reserved

निखरती है जब एक रचनात्मक आलोचक से उसका आत्मसंघर्ष होता है। आलोचक का यह आत्मसंघर्ष ही रचना को जीवन्त व सर्जनशील बनाता है; उसकी समझ को प्रसस्त करता है, रचना की अर्थ– प्रक्रिया को विस्तार देता है। तभी वह रचना और आलोचना दोंनों सर्जनात्मक होते हैं।क्योंकि दोनो का प्रयोजन एक ही है, मानवीय जीवन और उसकी समग्रता को अपनी अनुभूति में तपाकर एक सृजनात्मक अभिव्यक्ति देना। किसी भी कृति या रचना में आलोचक जितने अन्दर तक घुसेगा उसकी आलोचना भी उतनी ही सर्जनात्मक होगी रचना के प्रति आलोचक की यह समझ ही रचना और आलोचना दोनो की अर्थ–प्रक्रिया को विकसनशील बनाती है। यों रचना में अर्थ पहले से पूरा–का–पूरा धरा हुआ नही रहता है, बल्कि उसकी अर्थ–प्रक्रिया विकसित होती है आलोचना से टकराहट में। रचना के प्रति आलोचक की यह टकराहट जितनी ही सघन और तनावपूर्ण होगी उसकी आलोचना भी उतनी ही तटस्थ और धारदार होगी। क्योंकि रचना एक सर्जनात्मक कला है, जबकि आलोचना एक वैचारिकप्रक्रिया।

साहित्य अपनी प्रकृति में ही सर्जनात्मक होता है, जिसमें शब्द और अर्थ की आपसी रगड़ से अर्थ निष्पन्न होता है। 'शब्दार्थ' की यह रगड़ ही साहित्य की भाषा को सामान्य भाषा से अलग करती है। साहित्यिक भाषा में शब्द शक्तियों यथा (अविधा, लक्षणा, व्यंजना)प्रतीक व बिम्ब का सहारा लेकर कृति को सर्जनात्मक बनाने का उपक्रम किया जाता है। जो मानवीय सृष्टि की ही तरह सर्जनात्मक एवं विकसनशील होता है; जबकि सामान्य भाषा का निर्धारण व्याकरणिक नियमों के अधीन होता है सामान्य भाषा में अर्थ–विस्तार की इतनी गुंजाइस नहीं होती है जितनी की साहित्यिक भाषा में होती है। इसीलिए साहित्य को अन्य बिसयों की अपेक्षा सबसे अधिक सर्जनात्मक माना जाता है जिसमें अर्थ की विकसनशील प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है अनेक देश और कालों के सापेक्ष।

साहित्य या रचना में अर्थ की यह विकसनशील प्रक्रिया विस्तार पाती है आलोचना से टकराहट में, आलोचना और रचना की यह टकराहट साहित्य को ठीक उसी तरह विकसनशील करके अर्थ से सम्पन्न करती है जैसे दो लकड़ियो की आपसी रगड़ से अग्नि प्रज्जवलित हो जाती है। जिसे डॉ0 चतुर्वेदी कुछ इस तरह परिभाषित करते हुए कहते हैं कि–''शब्द–शब्द की रगड़ कहिए, टकराहट काहिए, दानों के आमने–सामने में अर्थ व्युत्पन्न होता है, अर्थ–सघनता आती है। कविता में यह शब्द की 'रगड़' यज्ञ की आरणियों में से उत्पन्न आग की तरह अर्थ व्युत्पन्न करती है। आग लकड़ी के भीतर ही है पर वह प्रकट होती है रगड़ होने पर। सामान्य अर्थ भी अर्न्तनिहित है शब्द प्रयोग में पर विशिष्ट अर्थ प्रकट होता है उनकी रगड़ में।''[4]शब्दों की यही रगड़ ही कविता या साहित्य की रचना–प्रक्रिया का केन्द्रीय तत्व है और इसकी सही पहचान ही आलोचक या समीक्षक को सही–अर्थ दिशा में उन्मुक्त करती है। इस समूची प्रक्रिया को 'सर्जनात्मक आलोचना' नाम दिया जा सकता है, जहॉ आलोचना रचना की अर्थ–क्षमता को विकसनशील बनाती है और उसकी अनन्त अर्थ–सम्भावनाओं को उन्मुक्त करती चलती है। यहॉ आलोचना सिर्फ रचना का परीक्षण व विश्लेषण ही नहीं अपितु रचना में अर्थ का संधान और संर्वर्धन भी है।इस मायने में आलोचना रचना से भी अधिक सर्जनशील होती है, जो कि रचना की रचनात्मकता को हमेसा जीवन्त बनाने का प्रयास करती रहती है।

कोई भी कवि या रचनाकार अपनी कृति या रचना के माध्यम से एक नई श्रृष्टि रचता है जिसमें वह कल्पना का निरीक्षण करके अपनी अनुभूति को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। रचनाकार की यह रचना–श्रृष्टि अपने युगबोध को, उस समय की तात्कालिक समस्या को किस स्तर तक उस कृति या रचना में प्रतिबिम्बित कर पाती है यह उस रचनाकार की सर्जन क्षमता पर निर्भर करता है। रचनाकार की यह रचना श्रृष्टि कितनी वास्तविक है और कितनी काल्पनिक उसकी परीक्षा तो असली संसार की कसौटी पर ही सम्भव हो पाती है। और यह पूरी की पूरी रचना प्रक्रिया सम्पन्न होती है एक तटस्थ और सर्जनात्मक आलोचक की आलोचना के माध्यम से। जिसके द्वारा आलोचक अपनी सर्जना को समाज के सामने एक प्रतिमान बनाने का उपक्रम करता है। वस्तुतः कोई भी रचना सिर्फ एक 'कृति' ही नहीं अपितु काव्य व कला भी होती है वह सिर्फ समाज की अनुकृति मात्र ही नहीं अपितु उसमें काव्य और कल्पना का भी मिश्रण होता है। काव्य का महत्व तो काव्य के अन्तर्गत ही है, किसी भी बाहरी वस्तु में नहीं। सभी बाहरी वस्तुऍ काव्य–निर्माण के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकती है; वे रचयिता के व्यक्तित्व पर बिभिन्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती हैं और डालती भी हैं; पर इन स्वीकृतियों के साथ हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है, उसकी स्वतन्त्र प्रक्रिया और उसकी परीक्षा के स्वतन्त्र साधन हैं। काव्य तो मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। उसके उत्कर्ष–अपकर्ष का नियन्त्रण बाह्य स्थूल व्यापार या वाह्य बौद्धिक संसार और आदर्श थोड़ी ही मात्रा में कर सकते हैं।''[5] हर रचना अमूमन अपने देश–काल की सीमा में सीमित होती है या यों कहें कि समकालीन होती है, पर उसमें समकालीनता से आगे की चेतना कितनी है यह उसका अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष है। अपने इसी विशिष्टता के कारण ही कोई भी कृति अपने आप को महान बनाती है; और उसकी यह महानता गतिशील होती है रचना और आलोचना की टकराहट में। तो ऐसे में आलोचना का दायित्व और भी बढ़ जाता है, क्योंकि रचना या साहित्य सिर्फ समाज की उपज ही नहीं होता अपितु उसे बदलता भी है। उसे क्या सही है और क्या गलत उसकी राह भी दिखाता है, क्योंकि कोई भी रचनाकार यदि अपने वर्ग–चरित्र से प्रभावित होता है, प्रेरणा लेता है तो उसका अतिक्रमण भी करता है अतः व्यक्ति चेतना और सामाजिक चेतना दोनों के सन्तुलन से ही कोई कृति या रचना महानता प्राप्त करती है जो कि सम्भव हो पाती है एक स्वस्थ्य, गतिशील व रचनात्मक आलोचना के द्वारा ।

कोई भी आलोचक या आलोचना जब तक तटस्थ नही होता, पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं होता तब तक उसकी आलोचना भी मात्र पृष्ठप्रेषण ही बनी रहती है उसमें रचनात्मकता नहीं आती है क्योंकि सर्जनात्मक आलोचना की जरूरी शर्त ही है कि वह भी रचना के समानान्तर यात्रा करे वह भी उन्ही कठिनाइयों का सामना करे जो रचनाकार सृजन

[4]–काव्य भाषा पर तीन निबन्ध–सं0 डॉ0 सत्यप्रकाश मिश्र लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद पृष्ठ– 106 ।

[5]–हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी– आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, विज्ञप्ति पृष्ठ– 06 ।

के समय करता है आलोचक भी उन्हीं मोड़ो और चौराहों से गुजरे जिनसे रचनाकार गुजरा है उसे भी उसी मानसिक अनुभूति का अनुभव हो जिसे सर्जक ने अनुभव किया था तभी उसकी आलोचना में भी वह वैचारिक प्रखरता और सर्जनात्मकता आ पायेगी जो कि रचना में विद्यमान है अर्थात् आलोचक के लिये भी रचनाकार की भॉति उसी आत्मसंघर्ष और बेचैनी की आवश्यकता होती है जिस बेचैनी से सर्जक जूझता है। सर्जनात्मक के इसी आत्मसंघर्ष की ओर इसारा करते हुए विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का मानना है कि–''सर्जनात्मक आलोचना वह है जो आलोचक के आत्मसंघर्ष से पैदा होती है। जिसे मैं आत्मसंघर्ष कहता हूँ उसमें सत्य और यथार्थ की जिज्ञासा, प्रश्नानुकूलता, सार्थकता की खोज, आत्मसाक्षात्कार की बेचैनी तथा संकल्प मिले–जुले होते हैं।**XXX**यह वह भीतरी संघर्ष है जिसे रनचाकार बाह्य को आन्तरिक बनाने और उसे उपयुक्त भाषा देने तक झेलता है। अर्थात् असली संसार को रचना–संसार बनाने तक की उसकी प्रक्रिया आत्मसंघर्ष की प्रक्रिया है। ''[6]

इस प्रकार जब तक आलोचक अपनी आलोचना प्रक्रिया में कृति को सामने रखकर उससे नही जूझता,वह आत्मसंघर्ष नही करता तब तक उसकी आलोचना भी सर्जनात्मक एवं धारदार नही बन पाती है। ''रचना जब रचनाकार को मथकर, उसके मंथन से निचुड़कर निकलती है तो अर्थवान और असरवान होती है। ऐसी ही आलोचना भी जब आलोचक के आत्ममंथन से पैदा होती है तो सर्जनात्मक और सार्थक होती है। जैसे सही रचना के लिए जरूरी है कि बाह्य परिवेश रचनाकार को गहराई से प्रभावित करे, उसे आलोकित करे, उसे लिखने पर विवश करे उसी प्रकार सही आलोचना के लिये भी जरूरी है कि रचना आलोचक को प्रभावित करे, उसे मथे तथा सोंचने और लिखने पर विवश करे। रचनाकार और आलोचक की यह विवसता उसकी रचना और आलोचना की प्रमाणिकताकी जरूरी शर्त है।''[7]आधुनिक दृष्टि से रचना जीवन के अर्थ का विस्तार करती है। तो आलोचना फिर रचना के अर्थ का। यह एक अनन्त संम्भावनाओं का जीवन–चक्र है इस माने में आलोचना आज जीवन और साहित्य के संदर्भ में एक प्रतिरचना या पुनर्रचना है। सर्जनात्मक आलोचना का अभिप्राय ही है, कि वह अर्थ को बराबर सक्रिय और सर्जनशील रखती है न कि वह रचना के सन्दर्भ में एक और रचना है।

[6]– गद्य के प्रतिमान–विश्वनाथ प्रसाद तिवारी , लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद पृष्ठ– 134 ।

[7]–गद्य के प्रतिमान विश्वनाथ प्रसाद तिवारी – लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद पृष्ठ –116 ।

RRIJM 2015, All Rights Reserved